



## International Journal of Advanced Academic Studies

E-ISSN: 2706-8927

P-ISSN: 2706-8919

[www.allstudyjournal.com](http://www.allstudyjournal.com)

IJAAS 2021; 3(3): 73-78

Received: 10-04-2021

Accepted: 22-06-2021

**Dr. Gauri Bhatnagar**

Assistant Professor/Officiating  
Principal in Shri Durga Mahila  
Mahavidyalaya, Tohana, distt  
Fatehabad, Haryana, India

# श्रीमद्भगवद्गीता में गुह्य गुह्यतर एवं गुह्यतम विषय

**Dr. Gauri Bhatnagar**

## शोध सार

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीता में समस्त शास्त्रों का सार निहित है महाभारत में भी कहा गया है सर्वशास्त्रमयी गीता।<sup>1</sup> इसी के आधार पर धर्म-प्राण संस्कृति और आर्य जाति के कुछ आदर्शों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आर्य संस्कृति के सभी मौलिक सिद्धान्त स्पष्टता अथवा सूत्ररूप में गीता में प्राप्त होते हैं। ईश्वर के गुण, प्रभाव, स्वरूप, तत्त्व, रहस्य और उपासना का तथा कर्म एवं ज्ञान का वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्र में किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थों में एक साथ मिलना कठिन है। स्वयं भगवान् वेदव्यास ने कहा है "गीता का ही भली प्रकार से श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान् के साक्षात् मुख कमल से निकली हुई है।"<sup>2</sup>

**कूट शब्द:** श्रीमद्भगवद्गीता, सर्वशास्त्रमयी, महाभारत

## शोध पत्र

भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा आत्मीय भक्त अर्जुन के सामने स्वयं को प्रकट करना ही गीता का गुह्यतम विषय है क्योंकि जो मनुष्य ईश्वर को अजर तथा अविनाशी नहीं मानते, उनके समक्ष ईश्वर अवतार लेकर भी योगमाया से आवृत्त रहता है, स्वयं को प्रकट नहीं करता; <sup>3</sup> परन्तु अपने अनन्य भक्त के समक्ष वह स्वयं को आवृत्त नहीं रख सकता। श्रीकृष्ण ने गीता में अपने प्रिय भक्त अर्जुन से अपनी भगवत्ता, महत्ता, प्रभुता की अनेक गुह्य, गुह्यतर तथा गुह्यतम बातें कहीं हैं।

## उदाहरणार्थ कुछ द्रष्टव्य हैं :

पुत्र मैनें इस अविनाशी योग अर्थात् कर्मयोग को पहले सूर्य से कहा था। फिर सूर्य ने वैवस्वत मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों ने जाना तथा उसका स्वयं भी आचरण किया और प्रजा से भी वैसा आचरण कराया। परन्तु अधिक समय बीत जाने के कारण वह योग इस मनुष्यलोक में लुप्तप्राय हो गया। <sup>4</sup> कहने का तात्पर्य है कि जहाँ से जो बात कही जाती है, वहाँ से वह परम्परा से जितनी दूर होती जाती है, उतना ही उसमें स्वतः अन्तर पड़ता जाता है- यही नियम है। यहाँ पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि कल्प के आदि में मैनें यह कर्मयोग सूर्य से कहा था, फिर परम्परा से इसे राजर्षियों ने जाना। अतः इसमें अन्तर पड़ता चला गया और चिरकाल बीत जाने से अब यह योग इस मनुष्यलोक में लुप्तप्राय हो गया। अर्जुन श्रीकृष्ण का प्रिय भक्त और सखा है, अतः यही पुरातन योग श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है; क्योंकि यह बड़ा उत्तम रहस्य है।<sup>5</sup>

श्रीकृष्ण के उपर्युक्त कथन पर अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि श्रीकृष्ण का जन्म तो अभी का सूर्य का जन्म बहुत पुराना है तो श्रीकृष्ण ने ही सृष्टि के आदि में सूर्य से यह योग किस

**Corresponding Author:**

**Dr. Gauri Bhatnagar**

Assistant Professor/Officiating  
Principal in Shri Durga Mahila  
Mahavidyalaya, Tohana, distt  
Fatehabad, Haryana, India

प्रकार कहा <sup>6</sup> "तब श्रीकृष्ण अर्जुन की जिज्ञासा दूर करते हुये कहते हैं कि मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु तुम नहीं जानते। मैं अजन्मा, अविनाशी-स्वरूप तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुये भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।<sup>7</sup> कहने का तात्पर्य है कि जो मनुष्य ईश्वर से विमुख रहते हैं, उनके समक्ष ईश्वर अपनी योगमाया से आवृत्त रहता है तथा मनुष्य जैसे-जैसे ईश्वर के सम्मुख होता जाता है, वैसे-वैसे ईश्वर उसके समक्ष प्रकट होता जाता है। धर्म का हास तथा अधर्म की वृद्धि होने पर भक्तों की रक्षा के लिये, पापकर्म करने वालों का विनाश करने के लिये तथा धर्म की उचित प्रकार से स्थापना करने के लिये मैं ही युग-युग में प्रकट होता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ।<sup>8</sup> धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होने पर मनुष्यों की प्रवृत्ति अधर्म में हो जाती है। अधर्म में प्रवृत्ति होने से स्वाभाविक पतन होता है। अतः मनुष्यों को पतन में जाने से रोकने के लिये ईश्वर स्वयं अवतार लेता है। महासर्ग के आदि में मेरे ही द्वारा गुणों तथा कर्मों के विभागपूर्वक चारों वर्णों की रचना की गई है। उस सृष्टि रचना आदि का कर्त्ता होने पर भी मैं अव्यय परमेश्वर अकर्त्ता ही रहता हूँ।<sup>9</sup> भक्त मुझे सब यज्ञों तथा तपों का भोक्ता, समस्त लोकों का महान् ईश्वर तथा समस्त प्राणियों का सुहृद् जानकर शांति को प्राप्त होता है।<sup>10</sup> जो भक्त देश, काल, वस्तु, घटना, परिस्थिति आदि सबमें मुझे देखता है तथा इन सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं रहता <sup>11</sup> अर्थात् निरन्तर उसके सामने ही रहता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं रहता। क्योंकि ईश्वर का यह नियम है कि जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उसी प्रकार उन्हें आश्रय देता हूँ।<sup>12</sup> तात्पर्य यह है कि भक्त ईश्वर के साथ घुल-मिल जाते हैं, ईश्वर के साथ उनकी आत्मीयता हो जाती है, अतः ईश्वर अपने स्वरूप में उन्हें सर्वत्र देखता है। इस जगत् का मेरे अतिरिक्त अन्य कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है। जिस प्रकार सूत की मणियाँ सूत के धागे में पिरोयी हुई होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओत-प्रोत है <sup>13</sup> अर्थात् संसार में जितने प्राणी हैं, वे सभी नाम, रूप, आकृति आदि से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में उनमें व्याप्त चेतन तत्त्व एक ही है। वह चेतन-तत्त्व मैं हूँ।<sup>14</sup> अतः मणिरूप अपरा प्रकृति भी मेरा स्वरूप है और धागरूप परा प्रकृति भी मैं ही हूँ। जल में रस, चन्द्रमा तथा सूर्य में कांति रूप कारण, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द रूप तथा मनुष्यों में पुरुषार्थ मैं ही हूँ। इसी प्रकार पृथ्वी में गन्धरूप, अग्नि में तेजरूप, समस्त प्राणियों में जीवनी शक्ति रूप तथा तपस्वियों में तपस्या रूप मैं ही

हूँ। समस्त प्राणियों का अनादि बीज रूप मैं ही हूँ अर्थात् मैं ही सबका कारण हूँ। सम्पूर्ण प्राणी मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, मुझमें ही रहते हैं और अंत में मुझमें ही लीन हो जाते हैं। मैं ही बुद्धिमानों में बुद्धि रूप तथा तेजस्वियों में तेजरूप हूँ। बलवानों में काम तथा राग से रहित बल मैं हूँ तथा मनुष्यों में धर्मयुक्त काम भी मैं ही हूँ। सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव मुझसे ही होते हैं, परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।<sup>15</sup> कहने का तात्पर्य है कि सृष्टिमात्र में जो कुछ हो रहा है, मूल में सबका आश्रय, आधार तथा प्रकाशक ईश्वर ही है। यह समस्त संसार मेरे अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है। समस्त प्राणी मुझमें हैं मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं। <sup>16</sup> तात्पर्य यह और संसार है- इस दृष्टि से देखा जाये तो संसार में ईश्वर तथा ईश्वर में संसार है। परन्तु यदि तत्त्व की दृष्टि से देखा जाये तो न संसार में ईश्वर है और न ईश्वर में संसार है, क्योंकि वहाँ संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वहाँ तो मात्र ईश्वर ही है। <sup>17</sup> मेरे इस ईश्वर सम्बन्ध योग को अर्थात् सामर्थ्य को देखो। तात्पर्य है कि मैं एक ही अनेकरूप में दिखता हूँ तथा अनेक रूप में दिखता हुआ मैं एक ही हूँ अतः सर्वत्रमात्र मैं ही हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाला, उनको धारण करने वाला तथा उनका भरण-पोषण करने वाला मेरा स्वरूप उन प्राणियों में स्थित नहीं है अर्थात् मैं उनके आश्रित नहीं हूँ, उनमें लिप्त नहीं हूँ।<sup>18</sup> यही बात अन्यत्र भी कही गई है कि क्षर अर्थात् जगत् और अक्षर अर्थात् जीवात्मा दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जिसे 'परमात्मा' नाम से अभिहित किया गया है तथा जो सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण करता हुआ सब पर शासन करता है।<sup>19</sup> कल्पों का क्षय होने पर अर्थात् महाप्रलय होने पर समस्त प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं तथा कल्पों अर्थात् महासर्ग के आदि में मैं पुनः उनकी रचना करता हूँ। <sup>20</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणी ईश्वर के ही अंश हैं। परन्तु वे प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य के साथ तादात्म्य करके जो भी कर्म करते हैं, उन कर्मों तथा उनके फलों के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ता जाता है, जिससे वे जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं। महाप्रलय के समय प्रकृति के परवश हुये वे समस्त प्राणी प्रकृतिजन्य सम्बन्ध के साथ अर्थात् अपने कर्मों के साथ ईश्वर की प्रकृति में लीन हो जाते हैं तथा जब ये कर्म परिपक्व होकर फल देने के लिये उन्मुख हो जाते हैं तब महासर्ग के आरम्भ में ईश्वर जीवों को उनके कर्मों अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों से सम्बद्ध कर देता है। पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद में भी हूँ। इस सम्पूर्ण जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु साक्षी, निवास, सुहृत् उत्पत्ति, प्रलय आदि भी

मैं ही हूँ।<sup>21</sup> मैं ही लोकहित के लिये सूर्यरूप में तपता हूँ, जल को ग्रहण करके वर्षारूप में बरसा देता हूँ। अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।<sup>22</sup> मैं ही अनन्य भक्तों का योगक्षेम वहन करता हूँ।<sup>23</sup> अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करा देना 'योग' है तथा प्राप्त सामग्री की रक्षा करना क्षेम' है। मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता तथा समस्त जगत् की स्वामी हूँ परन्तु जो मुझे तत्त्व से नहीं जानते, उनका पतन हो जाता है।<sup>24</sup> मैं समस्त प्राणियों में समान हूँ। कोई भी प्राणी मेरे राग-द्वेष का विषय नहीं है, परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।<sup>25</sup> कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर से विमुख होकर कोई प्राणी शास्त्रीय यज्ञ दान आदि कितने ही शुभ कर्म करे, तो भी वह ईश्वर के 'राग' का विषय नहीं है और दूसरा शास्त्रनिषिद्ध अन्याय, अत्याचार आदि कितने ही अशुभ कर्म करे, तो भी वह ईश्वर के 'द्वेष' का विषय नहीं है क्योंकि ईश्वर समस्त प्राणियों में समान रीति से व्याप्त है। परन्तु जिनकी संसार में आसक्ति, राग नहीं है, जो मात्र ईश्वर को ही अपना मानते हैं, मात्र ईश्वर के ही परायण रहते हैं तथा जो शरीर, इन्द्रियों, मन, वाणी के द्वारा ईश्वर की ओर ही चलते हैं,<sup>26</sup> वे ईश्वर में हैं तथा ईश्वर उनमें है। दूसरा भाव यह है कि जो ईश्वर के साथ मैं ईश्वर का हूँ तथा ईश्वर मेरा है' ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उनकी ईश्वर के साथ इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि ईश्वर तथा वे एक ही हो जाते हैं।<sup>27</sup>

मेरे प्रकट होने के उद्देश्य को, हेतुओं को न देवता जानते हैं तथा न महर्षि, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं तथा महर्षियों का आदि हूँ।<sup>28</sup> प्राणियों के बुद्धि, ज्ञान, क्षमा, सत्य, अहिंसा, समता, तुष्टि आदि अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव मुझसे ही होते हैं।<sup>29</sup> अर्थात् जगत् में जो कुछ विहित तथा निषिद्ध शुभ तथा अशुभ हो रहा है तथा संसार में जितने सद्भाव तथा दुर्भाव हैं, वह सब ईश्वर की ही लीला है इस प्रकार जो भक्त ईश्वर को तत्त्वतः समझ लेता है, उसका ईश्वर में अविकल्प योग हो जाता है।<sup>30</sup> मैं ही संसार मात्र का प्रभव अर्थात् मूलकारण हूँ तथा मुझसे ही समस्त संसार प्रवृत्त हो रहा है।<sup>31</sup> अर्थात् संसार में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पालन आदि जितनी भी चेष्टायें होती हैं, जितने भी कार्य होते हैं वे सब ईश्वर के द्वारा ही होते हैं। भक्तों पर कृपा करके उनके स्वरूप में रहने वाला मैं ही उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।<sup>32</sup> कहने का भाव यह है कि जो मात्र ईश्वरपरायण भक्त हैं, ऐसे प्रेमी भक्तों को ईश्वर समता तथा तत्त्वबोध देते हैं। समस्त प्राणियों का बीज मैं हूँ अर्थात् इस संसार का निमित्त कारण भी मैं हूँ और उपादान कारण भी मैं हूँ क्योंकि मेरे अतिरिक्त कोई भी

चर-अचर प्राणी नहीं है।<sup>33</sup> मैं अपने किसी एक अंश से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ।<sup>34</sup> कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर के किसी भी अंश में अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं,<sup>35</sup> परन्तु उनसे ईश्वर का कोई अंश रुका नहीं है अर्थात् पूर्णतया भरा नहीं है।

तुम अपने इन चर्मचक्षुओं से मेरे विराट रूप को नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, जिनसे तुम मेरे इस ईश्वर सम्बन्धी सामर्थ्य को देखो।<sup>36</sup> भाव यह है कि चर्मचक्षुओं की शक्ति बहुत अल्प तथा सीमित है अतः वे मन-बुद्धि-इन्द्रियों से परे ईश्वर के स्वरूप को नहीं देख सकते। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को अतीन्द्रिय अलौकिक रूप से देखने की सामर्थ्य वाले दिव्यचक्षु प्रदान किये जिससे अर्जुन उस दिव्यता अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी अलौकिक प्रभाव को देख सके। मैं सम्पूर्ण लोकों का क्षय करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ तथा इस समय मैं इन समस्त लोगों का संहार करने यहाँ आया हूँ। तुम्हारे युद्ध किये बिना भी ये तुम्हारे प्रतिपक्षी नहीं रहेगें।<sup>37</sup> तात्पर्य यह है कि इन सबका संहार तो होने वाला ही है अतः अर्जुन के मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं बचेगें। इसीलिये अर्जुन को अपने युद्धरूपी कर्तव्य का पालन करना चाहिये। ये समस्त योद्धा तो पहले से ही मेरे द्वारा मारे हुये हैं। अतः तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो।<sup>38</sup> भाव यह है कि कार्य की सिद्धि में अपने अभिमान का किञ्चिन्मात्र भी अंश न हो। जो भक्त समस्त कर्मों को मुझे अर्पण करके तथा मेरे परायण होकर अनन्ययोग से मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं मृत्युरूपी संसार सागर से शीघ्र ही उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।<sup>39</sup> तात्पर्य यह है कि यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलतायें ईश्वर में कर ले अर्थात् एकमात्र ईश्वर से ही अनन्य प्रेम का सम्बन्ध जोड़ ले तथा सारी प्रतिकूलतायें संसार में कर ले अर्थात् संसार की सेवा करके अनुकूलता की इच्छा से विमुख हो जाये, तो वह इस संसार बन्धन से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

जो मनुष्य अव्यभिचारिणी भक्ति से मेरा भजन करता है, वह गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्ति का पात्र हो जाता है।<sup>40</sup> भाव यह है कि जो मात्र ईश्वरपरायण है, ईश्वर के प्रति ही आकृष्ट है, उसके लिये ब्रह्मप्राप्ति स्वतः सिद्ध है। मैं ही ब्रह्म अविनाशी अमृत शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुख का आश्रय हूँ।<sup>41</sup> तात्पर्य यह है कि यहाँ ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि ही श्रीकृष्ण हैं तथा श्रीकृष्ण ही ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदि हैं। अतः इसमें कोई आधार-आधेय भाव नहीं है, एक ही तत्त्व है। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में मेरा ही तेज है। मैं ही अपनी शक्ति से समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ, तथा मैं ही चन्द्रमा के रूप में समस्त औषधियों को पुष्ट करता हूँ। वैश्वानर रूप में मैं ही प्राणियों के चार प्रकार के अन्न को

पचाता हूँ। मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा अपोहन अर्थात् संशय आदि दोषों का नाश होता है। सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदों के तत्त्व का निर्णय करने वाला तथा वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।<sup>42</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की सत्ता के बिना संसार की कोई सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्मसत्ता की ओर दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी पदार्थों में राग या सुखासक्ति रहने के कारण उन प्राणी-पदार्थों की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होन लगती है तथा परमात्मा की वास्तविक सत्ता नहीं देखती। अतः यह आवश्यक है कि किसी भी प्राणी पदार्थ की ओर दृष्टि जाने पर साधक को एकमात्र ईश्वर की ही स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी-पदार्थ में ईश्वर को ही देखना चाहिये।<sup>43</sup> ईश्वर क्षर से अतीत है, क्योंकि क्षर अर्थात् प्रकृति प्रतिक्षण परिवर्तनशील है तथा ईश्वर नित्य निरन्तर निर्विकार रूप से एक सा ही रहता है। साथ ही वह अक्षर से भी उत्तम है क्योंकि ईश्वर का अंश होने पर भी अक्षर अर्थात् जीवात्मा क्षर अर्थात् प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है<sup>44</sup> तथा प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाता है जबकि ईश्वर कभी मोहित नहीं होता।<sup>45</sup> ईश्वर प्रकृति को अपने अधीन करके संसार में अवतार लेता है<sup>46</sup> जबकि जीवात्मा प्रकृति के वशीभूत होकर संसार में आता है। अतः क्षर से अतीत तथा अक्षर से भी उत्तम होने के कारण लोक में तथा वेदों में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।<sup>47</sup> इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानकर मेरा ही भजन करता है, वह सर्वज्ञ है<sup>48</sup> अर्थात् क्षर से सर्वथा परे पुरुषोत्तम परमात्मा को ही सर्वोपरि मानकर उसके सम्मुख हो जाना, मात्र उसे ही अपना मान लेना ईश्वर को यथार्थ रूप से पुरुषोत्तम जानना है। इस प्रकार मेरे द्वारा कथित यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र जानकर मनुष्य ज्ञानवान् कृतकृत्य हो जाता है।<sup>49</sup> भाव यह है कि ईश्वर द्वारा कथित संसार की वास्तविकता, जीवात्मा के स्वरूप तथा ईश्वर के अप्रतिम प्रभाव-इस गुह्यतम शास्त्र को जो मनुष्य तत्त्वतः जान लेता है, वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

मेरा आश्रय लेने वाला मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ भी मेरी कृपा से अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है।<sup>50</sup> भाव यह है कि जब तक मनुष्य असत् संसार का आश्रय लेकर ईश्वर से विमुख रहता है तब तक ईश्वरकृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती। ईश्वर का आश्रय ले लेने पर उसकी कृपा से भक्त लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि कर्मों को करते हुये भी शाश्वत परमपद को प्राप्त कर लेता है। हृदय से सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पित करके, मेरे परायण

होकर तथा समता का आश्रय लेकर मुझमें चित्त वाला हो जा। इससे तू मेरी कृपा से समस्त विघ्न बाधाओं को तर जायेगा।<sup>51</sup> तात्पर्य यह है कि जो स्वयं को ईश्वर के समर्पित कर देता है, उसका हृदय भी ईश्वर के चरणों में समर्पित हो जाता है, तब उस पर ईश्वर का स्वतः स्वाभाविक अधिकार प्रकट हो जाता है तथा उसके हृदय में स्वयं ईश्वर विराजमान हो जाते हैं और ईश्वर की कृपा से उस भक्त के सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ, शोक आदि दूर हो जाती हैं। अन्त में श्रीकृष्ण अर्जुन से यह कहते हैं कि समस्त धर्मों का आश्रय छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर'<sup>52</sup> अर्थात् तू सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय, धर्म के निर्णय का विचार छोड़कर स्वयं ईश्वर के शरणागत होना चाहिये- यही सम्पूर्ण साधनों का सार है। इसके साथ ही अपने भाव, वृत्तियों, आचरण सम्बन्धी दोषों तथा लोक-परलोक आदि की चिन्ता न करते हुये यह सब ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने रहस्य की, स्वयं को अपने भक्तों के समक्ष प्रकट करने की जो भी बातें कही हैं, वे ही गीता का गुह्यतम विषय है।

### संदर्भ सूची

1. महाभारत भीष्मपर्व 43 / 2
2. गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुख्यमाद्विनिः सृता ॥ वही 43 / 1
3. नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता 7/25
4. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ वही 4 / 1-2
5. स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ वही 4 / 3
6. अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ वही 4/4
7. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वायधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ वही 4/5-6
8. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

- अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।  
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।  
वही 4 / 7-8
9. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।  
तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम् ।।  
वही 4 / 13
10. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।  
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।  
वही 5/29
11. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।  
तस्याहं न प्राणश्यामि स च मे न प्रणिश्यति ।।  
वही 6 / 30
12. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।  
वही 4 / 11
13. मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।  
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।  
वही 7-7
14. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।  
वही 13/2
15. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।  
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः रवे पौरुषं नृषु ।।  
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।  
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।  
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।  
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।  
बलं क्लवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।  
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।  
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।  
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।  
वही 7/8-12
16. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।  
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।  
वही 9/4
17. वासुदेवः सर्वम् ।  
वही 7 / 19
18. न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।  
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।  
वही 9/5
19. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।  
ये लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।  
वही 15 / 17
20. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।  
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।  
वही 9/7
21. पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः ।  
वेद्यं पवित्रमोड र ऋक्साम यजुरेव च ।।  
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।  
वही 9/17-18
22. तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।  
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।  
वही 9/19
23. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।  
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।  
वही 9/22
24. अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।  
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।  
वही 9/24
25. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।  
ये भजन्ति मां भक्त्या मयि वे तेषु चाप्यहम् ।।  
वही 9/29
26. क-सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।  
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।  
वही 9/14
- ख- यच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।  
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।  
वही 10/9
27. तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ।  
नारदभक्तिसूत्र 41
28. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।  
अहमादिहिं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।  
वही 10/2
29. बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।  
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।  
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।  
भवन्ति भावा भूतानां मत्र एव पृथग्विधा ।।  
वही 10/4-5
30. एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।  
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।  
वही 10/7
31. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते  
वही 10/8
32. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।  
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।  
वही 10/11
33. यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन  
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।  
वही 10 / 39
34. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।  
वही 10 / 42
35. रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ।

- श्रीरामचरितमानस 1 / 201
36. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुसा ।  
दिव्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् ॥  
गीता 11 / 8
37. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह  
प्रवृत्तः  
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः  
प्रत्यनीकेषु योधाः ॥  
वही 11 / 32
38. मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्तं भव सव्यसाचिन्  
॥ वही 11 / 33
39. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।  
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥  
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।  
भवामि नचिरात्यार्थं मय्यावेशितचेतसाम् ॥  
वही 12/6-7
40. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।  
स गुणान्समतीत्यैताब्रह्मभूयाय कल्पते ॥  
वही 14 / 26
41. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।  
शाश्वत च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥  
वही 14 / 27
42. यदादित्यगतं तेजो जगद्द्रासयतेऽखिलम् ।  
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥  
गामाविश्य च भूतानि धारयाञ्चहमोजसा ।  
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥  
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।  
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥  
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं  
च । वे  
दैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥  
वही 15 / 12-15
43. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।  
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥  
वही 10/41
44. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।  
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥  
वही 15/7
45. त्रिभिर्गुणमयैभविरेभिः सर्वमिदं जगत् ।  
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥  
वही 7 / 13
46. प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।  
वही 4/6
47. भूतप्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।  
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥  
वही 8 / 19
48. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।  
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥  
वही 15 / 18
49. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।  
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥  
वही 15 / 19
50. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानद्य  
एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥  
वही 15 / 20
51. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्द्वयपाश्रयः ।  
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥  
वही 18 / 56
52. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।  
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥  
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।  
अथ चेत्त्वमहंकारात् श्रोष्यसि विनडं क्ष्यसि ।  
वही 18 / 57-58
53. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥  
वही 18 / 66